खेलते-खेलते ज़िंदगी

गिरीश कारनाड की आत्मकथा *आडाडत आयुष्य* का पहला अध्याय 'प्राक्'

कन्नड़ से अनुवाद : अतुल तिवारी

मेरी माँ का नाम था कृष्णाबाई। कृष्णाबाई मंकीकर। लेकिन परिवार के सब बड़े उन्हें कुट्टाबाई बुलाते थे और अपने से छोटों के लिए वे कुट्टक्का थीं। 1984 में जब वह बयासी बरस की हुईं, तो मेरी भाभी सुनंदा ने पीछे पड़ कर उनसे उनकी आत्मकथा लिखवा डाली। तक़रीबन तीस पेज लम्बी यह आत्मकथा उन्होंने कोंकणी में लिखी, पिताजी की उन पुरानी डायरियों के ख़ाली हाशियों में जिसमें वे अपना रोज़ का हिसाब लिखा करते थे। उन पन्नों को पढ़ने से पहले, मेरे भाई-बहन और मैं अक्सर उन शंकाओं, डरों और दु:स्वप्नों को समझने की कोशिश करते थे, जो हमारे बचपन की रातों को झकझोरते रहे थे। माँ की आत्मकथा ने उन भयों को बेनक़ाब करने और उनसे रू-ब-रू करने के ज़रिये हमें उनसे मुक्ति दिलाने में मदद की।

कुट्टाबाई का जन्म 1902 में हुबली में हुआ, पर बचपन में ही वे अपने पिता के साथ पूना चली गयीं जहाँ वे मद्रास और सदर्न मराठा रेलवे के लिए काम करते थे। यही था वह वक़्त जब पूना सामाजिक और कलात्मक हलचलों का हिस्सा बना हुआ था। मराठी भाषा आधुनिकता की चुनौती का सामना कर रही थी— उस साहित्य के साथ जो नये सामाजिक अनुभवों की तलाश में था और ऐसी ऊर्जावान पत्रकारिता से

जो मराठी समाज को स्वतंत्रता के लिए ललकार रही थी। फिर मराठी रंगमंच भी व्यावसायिक शिखर पर था। जहाँ बाल गंधर्व और केशव राव भोंसले जैसे अभिनेता थे, वहीं सम्भ्रांत समाज ने भी उसे मराठी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला मान लिया था। कुट्टाबाई बड़ी पढ़ाकू थीं। पूना के वे साल उनके जीवन के सबसे सुखमय थे। इस शहर में उपलब्ध शिक्षा के अवसरों से वे सबसे ज़्यादा उत्साहित थीं। महाराष्ट्र में मिशनरियों, समाज सुधारकों और सरकार से प्रेरित स्त्री-शिक्षा के अभियान बड़े ज़ोरदार थे। ऐसे अवसर खुल रहे थे जो पहले कल्पनातीत थे। 'एक सरलाबाई नायक थी, पहली पीढ़ी की, जो एमए हो गयीं', माँ को 75 वर्ष बाद भी याद था।

जब वे 9 बरस की और मराठी के तीसरे दर्जे में थीं, तब उनके पिता का तबादला गदग कर दिया गया, जो कन्नड़ भाषी इलाके में एक छोटा सा क़स्बा था। कुट्टाबाई को अगले कुछ सालों में मिली निराशाओं में से पहली का सामना यहीं करना पड़ा। गदग में शिक्षा की भाषा कन्नड़ थी जो उन्हें शुरू से सीखनी पड़ी। उस भाषा का साहित्य अभी अपने मध्यकालीन बंधनों से नहीं उबरा था। असल में, मराठी परिवेश से चमत्कृत लोग खुले आम कन्नड़ की खिल्ली उड़ाते थे— कि वह कितनी पिछड़ी संस्कृति है। वहाँ का समाज रूढ़िवादी था और लड़कियों की शिक्षा की कोई सुविधा नहीं थी।

'मैं अपनी प्राध्यापिका के पास गयी और रोयी', वे लिखती हैं। 'मैं गदग नहीं जाना चाहती', मैंने कहा, 'मैं बहुत पढ़ना और बी.ए करना चाहती हूँ। वहाँ सुना कुछ है ही नहीं सिवाय कन्नड़ के।'

प्राध्यापिका और उनकी बहन जो हुजुरपागा (एक प्रसिद्ध कन्या पाठशाला) में पढ़ाती थीं, हमारे घर आयीं और मेरे पिताजी से चिरौरी करने लगीं। 'कृष्णी शिक्षा की भूखी है। उसे आप छोड़ जाइए : हुजूरपागा के छात्रावास में रह लेगी। आपको उसकी शिक्षा पर कुछ नहीं खर्च करना है। सरकार रहने-खाने का खर्चा उठायेगी।' पर मेरे माँ-बाप मानने के लिए तैयार नहीं हुए।

डर था कि अगर उन्हें अपने पर पीछे छोड़ दिया गया तो उन्हें ईसाई बना दिया जाएगा।

सो कुट्टाबाई को गदग जाना पड़ा और कन्नड़ पाठशाला भी, जहाँ वह वर्ग में अकेली कन्या थी।

क़रीब आधी सदी के बाद, इस वाकये की बात करते वक़्त, अचानक आँखों में आँसू भर आये। कुट्टाबाई पढ़ने की दीवानी थीं। उनकी सीधी-सादी माँ ने तो दिन-रात किताबें पढ़ने के लिए उन्हें कभी नहीं टोका। पर पिता नाराज़ होते थे कि वे घर के काम में हाथ नहीं बँटाती थीं। शराब की लत लग जाने के बाद उनके पिता किताबें उठा कर किसी कोने में फेंक देते या चूल्हे में झोंक देते। इसलिए कुट्टाबाई को अक्सर छत पर जा कर चाँद की रोशनी में या चादर के नीचे छिप कर टॉर्च की रोशनी में किताबें पढ़नी पड़तीं। जवान होने तक कुट्टाबाई अविवाहित थीं। परिवार वाले इस शर्मनाक स्थिति को रिश्तेदार और पड़ोसियों से छिपाने का हर सम्भव प्रयास करते और माह-दर-माह यही जताते कि सब ठीक-ठाक है। पर आख़िरकार उन्हें गोकर्ण के एक परिवार का लड़का मिल ही गया।

उनकी शादी हो गयी। एक बेटा हुआ : भालचंद्र और दो साल के अंदर ही उनके पति एनीमिया और मलेरिया से गुज़र गये सास-ससुर ने आने की ज़हमत भी नहीं की।

'पिताजी के दिये गये गहनों के अलावा, मेरे पास एक कौड़ी न थी। एक जीवन बीमा की पॉलिसी थी, पर वह भी रद्द हो गयी थी, क्योंकि किसी ने किश्तें ही नहीं भरी थीं'। इस तरह कृष्णाबाई वापस गदग आ गयीं, अपने गोदी के बच्चे के साथ, माँ-बाप के साथ रहने जहाँ कोई भविष्य नज़र नहीं आ रहा था।

यही नियति थी— और अब भी है— भारत के ग़रीब तबक़े की आम मध्यवर्गीय विधवा की। सौभाग्य से, 1920 तक, चित्रापुर सारस्वत ब्राह्मण समाज ने अपनी विधवाओं के मुंडन की प्रथा छोड़

दी थी। सो कुट्टाबाई के लम्बे बाल, जो उनके घुटनों तक पहुँचते थे, नाई के उस्तरे से बच गये।

इस विषम परिस्थिति में भी कुट्टाबाई दृढ़प्रतिज्ञ थीं कि वे ख़ुद पढ़ेंगी, जीवन में कुछ करेंगी और हो सका तो डॉक्टर बनेंगी। गदग बॉम्बे राज्य के कोने-कुथरे में था, पर पूना और बॉम्बे तो सिर्फ़ सरहद पार थे और रेल से एक दिन की दूरी पर। लेकिन उनके परिजनों में न किसी को इच्छा थी— न समय— कि उनके साथ इन शहरों तक जाए और उन्हें किसी शिक्षा संस्थान में भर्ती करवाये।

एक व्यक्ति, जिन्होंने इस समय उनकी मदद की— वे थे उनकी बड़ी बहन शांता के पति सशित्तल मंगेश राव जो सरकार के राजस्व विभाग में मामलतदार (पटवारी) थे। पहले हावेरी और फिर धारवाड़ में उनका मकान किसी बड़े से अनाथालय जैसा था, जहाँ उनके अपने सात बच्चों, उनके और पत्नी के अलावा पता नहीं कितने अनाथों को आश्रय मिला हुआ था, जो दूर-दराज़ से रिश्ते में लगते थे।

मंगेश राव को जूनून सा था कि उनका पूरा कुनबा पढ़े-लिखे और सुसंस्कृत बने। सुबह-सुबह एक अध्यापक आते और संस्कृत पढ़ाते। फिर शाम ढले जब तक बच्चे स्कूल से घर पहुँचते एक दूसरे अध्यापक दरवाज़े पर मौजूद हो जाते। अलावा इसके, मंगेश राव ख़ुद बड़े उत्साही अध्यापक थे। उन्हें घंटों सबको सबक दोहरवाना बड़ा प्रिय था। इस आपाधापी वाले अभ्यास के माहौल ने कुट्टाबाई की स्व-शिक्षा में बड़ी मदद की।

मैं बच्चों के साथ पढ़ने बैठ जाती। क्योंकि मुझे पढ़ना पसंद था। मैं पाँच-छह महीने में ही अंग्रेज़ी के चौथे क्लास में पहुँच गयी। बीज गणित, पहाड़े, वग़ैरा। एक विषय था संस्कृत अनुवाद, जिसमें मैंने महारत हासिल कर ली, और मैंने तय किया कि मैट्रिकुलेशन की परीक्षा घर से ही दूँगी। उन दिनों, मेडिकल कॉलेजों में दाख़िले के लिए मैट्रिकुलेट होना ही काफ़ी था और मैं बेचैन थी डॉक्टर बनने के लिए।

परंतु मंगेश राव का तबादला हो गया बैलहोंगल, जो असल में एक बड़ा गाँव था जहाँ शिक्षा की कोई सुविधा थी ही नहीं। फिर एक बार, कुट्टाबाई को कुछ युवाओं के साथ धारवाड़ में रहने का अस्थायी बंदोबस्त करना पड़ा।

कुट्टाबाई बताती हैं, मेरे बहनोई को अक्सर अदालत के काम से बेलगाम जाना होता था। इन दौरों में वे हमारे एक रिश्तेदार डॉक्टर (रघुनाथ) कारनाड के साथ ठहरते थे। वहाँ उन्होंने जब नर्सों को अस्पताल में काम करते देखा तो ख़याल कौंधा कि मुझे भी वहाँ प्रशिक्षण के लिए भेज सकते हैं। उन्होंने डॉक्टर से पूछा कि क्या मुझे नर्सिंग कोर्स में दाख़िला मिल सकता है। डॉक्टर मान गये। मैंने प्रतिवाद किया कि मैं चिकित्सा विज्ञान पढ़कर डॉक्टर बनना चाहती हूँ। पर मेरे बहनोई ने इसरार किया। उन्होंने तर्क रखा कि नर्स बनने के प्रशिक्षण के दौरान मैं अपनी पढ़ाई ज़ारी रख सकती हूँ और परीक्षा में बैठ सकती हूँ। वे ये तक बोले कि मुझे पढ़ाने के लिए एक अध्यापक भी लगवा देंगे।

उन्होंने प्रसूति-दाई के एक साल के कोर्स में मेरा दाख़िला करवाया और चले गये। हमारे पूरे परिवार में वे अकेले थे जो मेरी मदद के लिए तैयार थे। सो मेरे पास उनकी सुनने के अलावा कोई चारा ही नहीं था। मेरे पास न पैसा था, न ज़ेवर। माँ ने एक बोरी हार दिया था, सोने के बंद और तोड़े, चार-पाँच तोले के मेरी कलाई के लिए। बोरी हार को छोड़ कर मुझे कुछ पता ही नहीं चला कि बाक़ी ज़ेवर कहाँ गायब हो गये। ब्याह के वक़्त मेरी सास ने मुझे अपना ख़ानदानी पुताली हार दिया था जो पेट तक आता था। पर घर जाते वक़्त वे उसे वापस ले गयीं। उस समय मैंने इन बातों पर कोई ध्यान ही नहीं दिया।

'जब मैंने बेलगाम में नर्सिंग कोर्स शुरू किया तो रहने की समस्या सामने आयी। मुझे बीस रुपये महीने की छात्रवृत्ति मिलती थी और अस्पताल में सिर्फ़ हेड नर्स के रहने का आवास था।' और

कुट्टाबाई को रहने की जगह चाहिए थी।

डॉक्टर की पत्नी को न जाने क्या बीमारी थी। वे लम्बे समय से बिस्तर पकड़े थीं। न नहाना। न उठना या चलना-फिरना। उनके बग़ल में एक तिपाई थी जिस पर खाना रख दिया जाता था। देख-रेख के लिए एक नर्स थी उनके यहाँ और एक रसोइया।

डॉक्टर ने कहा, 'तुम मेरे घर में रह सकती हो।'

डॉक्टर देखने में बड़े 'हैंडसम' थे। क़रीब छह फ़ुट ऊँचे, घुँघराले बाल। गोरा रंग, चाल-ढाल ऐसी कि कोई भी आकर्षित हो जाए। बदन ऐसा कि न मोटे, न पतले। हैट पहन कर अस्पताल जाते, नतीजतन अक्सर लोग उन्हें ग़लती से एंग्लो-इंडियन समझ बैठते। वो क़रीब 34 या 35 के थे तब।

उन्हीं दिनों डॉक्टर ने मुझसे पूछा कि क्या मेरा कोई इरादा 'रिमैरिज़' का है। और उस विचार ने मेरे दिमाग़ में सेंध लगानी शुरू कर दी।

'मैं पूरी बाईस की थी तब।'

यूँ शुरू हुए डॉक्टर के घर में कुट्टाबाई के पाँच साल। पाँच साल जिन्होंने मुझे और मेरे सहोदरों को किशोरावस्था में दाग़ के रख दिया था। 'पाँच साल' जिनमें उस डर ने, जिसे हम जता नहीं सकते थे— बस नीचे दबा सकते थे, हमारी रातें हराम कर दीं।

यह सच है कि आख़िरकार उन्होंने ब्याह कर लिया। पर इन पाँच सालों में उनके रिश्ते का स्वरूप क्या था? क्या दैहिक संबंध थे उनके? ये ख़याल भी कि हमारी माँ ने पाँच साल एक परपुरुष के साथ अनैतिक संबंध रखा था— फिर वे हमारे पिता ही क्यों न हों— बेहद दर्दनाक था। बरसों-बरसों तक अगर मैं ज़रा सा इशारा भी करता कि यदा-कदा तो वे दोनों साथ सोये होंगे— तो मेरी बहनें हत्थे से उखड़ जातीं या आँसुओं में फूट पड़तीं। उनकी आत्मकथा ने साफ़ जवाब दिये और हमारी चिंताओं और आशंकाओं को शांत करने के लिए बहुत कुछ किया, यद्यपि तब तक हम तय कर चुके थे कि बड़प्पन इसी दिखावे में है कि इतिहास से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

यह पहेली अब भी मुझे आश्चर्य चकित करती है कि क्या कारण रहा होगा इस बात का कि मंगेश राव एक ख़ूबसूरत विधवा को 35 साल के एक शादीशुदा डॉक्टर के हाथों में धकेल कर ग़ायब हो गये। उन दिनों के हिंदू समाज के कौन से नियम थे जिन्होंने समाज के इस स्तम्भ को यह असाधारण कृत्य करने का कारण, बहाना या तर्क प्रदान किया होगा। उन्होंने ऐसा नहीं सोच लिया होगा कि ऐसी स्थिति में अंत में उनका ब्याह हो ही जाएगा और ऐसा हुआ भी नहीं। क्या उन्होंने यह सोचा होगा कि सारस्वत ब्राह्मण समाज का विवेक और संयम इन दोनों युवाओं को सही सँकरे सन्मार्ग पर ही रखेगा— या उन्होंने तय पाया कि उनके साथ आयी समस्या का निदान नहीं है— न विधवा का कोई भविष्य है— सो कब तक वे उसकी मदद कर उस पर समय बरबाद करते रहें?

बात जो भी हो, मंगेश राव हमारे परिवार के कारण पुरुष सिद्ध हुए, पुराण पुरुष, जिन्होंने हमारे वंश को अस्तित्व दिया।

पाँच साल तक डॉक्टर ने अपने प्रस्ताव पर कोई क़दम नहीं उठाया।

'उन दिनों कई शादियाँ करना ग़ैर-क़ानूनी नहीं था— महाराष्ट्र में कइयों की चार-पाँच पत्नियाँ हुआ करती थीं। पर डॉक्टर को डर था कि लोग क्या सोचेंगे।' कुट्टाबाई बताती नहीं साफ़-साफ़ कि उनके भय क्या थे। इतना स्पष्ट है कि कारण जो भी हो, उनमें द्वि-विवाह के विचार से ज़्यादा इस बात का डर था कि विधवा से ब्याह करके क्या बखेड़ा खड़ा होगा।

उन्होंने (माँ ने) तीन साल में नर्सिंग का प्रशिक्षण पूरा कर लिया और नौकरी तलाशने लगीं।

'बेलगाम के किसी सर्जन ने प्रस्ताव दिया कि वे मुझे लंदन भिजवा देंगे अगर इस बीच मैं उनके घर जा कर रहूँ और उनकी बीमार पत्नी की देखभाल करूँ। सीधे-सीधे मना करने की हिम्मत नहीं थी मुझमें। पर कह दिया कि घर वाले राज़ी नहीं हैं। नौकरी की तलाश में मैं सुदूर बंगलूर तक गयी जहाँ मुझे अस्वीकार कर दिया गया, क्योंकि मेरी अंग्रेज़ी एंग्लो-इंडियन स्टाफ़ के स्तर की नहीं थी।'

इस तरह बार-बार नौकरी की तलाश में बाहर जाना फिर ख़ाली हाथों पुन: डॉक्टर की छात्र-छात्राओं के पास बेलगाम वापस आना उनके जीवन का मूल-भाव सा बन गया।

'हमारी क़रीबी बढ़ गयी थी। लोग हमारे बारे में कानाफूसी-बतकही करते थे। डॉक्टर को लोक-लांछन का बड़ा डर था। पर लोगों के ताने मुझसे बर्दाश्त न होते थे।

'फिर 1928 में डॉक्टर का तबादला धारवाड़ के सिविल अस्पताल में हो गया। वे बोले कि वहाँ स्टाफ़ नर्स की एक जगह ख़ाली है और मैं उसके लिए अर्ज़ी दे दूँ।

'इस तरह मैं धारवाड़ के सिविल अस्पताल आ गयी। एक साल और बीत गया और फिर भी उन्होंने आगे बढ़ने का इरादा ही न दिखाया। तब मैंने तय किया कि मुझे ही कुछ करना पड़ेगा।

'मैंने उनका सामना किया और बताया, आपकी वजह से मैंने लोगों के ताने सहे हैं। क्या अब आप मुझे आधे-रस्ते मझधार में छोड़ देंगे? कहीं दूर तबादला करवा लीजिए। हम शादी कर लेंगे। (दूर किसी छोटी जगह जहाँ विधवा की बदनामी उनका पीछा न करे)।'

डॉक्टर की आनाकानी कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। सारस्वत ब्राह्मण समाज अपने बच्चों को जोखिम के लिए प्रोत्साहित करने के लिए नहीं जाना जाता। ज़ोर इस बात पर होता है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा सुरक्षा की दृष्टि से की जाए। डॉक्टर का जन्म एक बड़े और ग़रीब परिवार में हुआ था। बचपन में वे कभी इस चचेरे भाई से उस मौसेरे भाई के घरों में भेज दिये जाते थे। ख़तरे वाला कोई क़दम उठने की बात से ही वे झिझक गये।

उन्हें जीवन से एक ही अपेक्षा थी— स्थायित्व। कोई स्वप्निल प्रशांति नहीं, पर बस किसी उथल-पुथल की सम्भावना से परे। उन्हें विषय के रूप में इतिहास पसंद था, पर वे मेडिकल की पढ़ाई में लग गये, क्योंकि इस विषय में भारतीय छात्रों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष छात्रवृत्तियाँ थीं। और वहाँ भी पहला मौक़ा मिलते ही उन्होंने सरकारी नौकरी कर ली ताकि नियमित तनख़्वाह की सुरक्षा मिल सके। उन्होंने शव-परीक्षण (पोस्ट-मॉर्टम) में विशेषज्ञता अर्जित की, क्योंकि वहाँ ज़्यादा पारिश्रमिक था। इस काम में वे इतने अच्छे थे कि सरकार ने उन्हें 'राव साहब' का ख़िताब भी दिया। वे अपने डॉक्टर साथियों की तारीफ़ भी करते और उनकी 'विद्वत्ता' का भी बखान करते जो विदेशों में नाम कमा रहे थे। पर ख़ुद उन्हें नयी सम्भावनाएँ तलाशने और अपना जीवन सुधारने की बात कभी नहीं सूझी। यही सिद्धांत कूट-कूट कर उन्होंने अपने बच्चों में भरा कि क़दम-क़दम पर सावधानी बरतो। अधिक महत्त्वाकांक्षी न होने में ही अच्छा है। वे अंग्रेज़ी में चेतावनी देते कि 'वर्तमान सुख बलिदान करने पड़ते हैं भविष्य के चैन के लिए।' आपको बाक़ी सबों जैसा होना चाहिए। हमारा रहन-सहन बाक़ी औरों जैसा ही होना चाहिए। अलग खड़े होना ग़लत है। जीवन में जिस अकेले दुस्साहस का उन्होंने ख़तरा उठाया था— वह था एक विधवा से शादी करना। और यहाँ भी श्रेय निश्चित उस विधवा को ही जाता है।

अंतत: दोनों अलग-अलग बंबई गये जहाँ श्री वैद्य नाम के एक व्यक्ति वैदिक रीति से विवाह करवाते थे। उन्होंने सब इंतज़ाम कर रखे थे, मंगल-सूत्र तक। माँ आह-सी भर कर लिखती हैं, 'वहाँ आख़िरकार अग्नि को साक्षी करके हमारी शादी हो गयी।

'सिर्फ़ मैं जानती हूँ कि इन पाँच-छह वर्षों में मैंने क्या मानसिक यातना भोगी थी।'

इस घटना को दर्ज करने के एक पृष्ठ के अंदर ही कृष्णाबाई की आत्मकथा अचानक ख़त्म हो जाती है। जब पूछो तो हँसतीं और कहतीं, 'और क्या है बताने को। तुम सब आ गये एक के बाद एक। मेरी दुनिया।'

बाद में आई (माँ) अक्सर यही कहती कि उन मुश्किल सालों को छोड़ कर उनका जीवन बड़ा सुखी रहा। वे जीवन में अधिकांशत: अपने बच्चों, पोते-पोतियों, आश्रितों से घिरी रहीं। और नौकरों से भी जो जल्दी ही परिवार का हिस्सा बन जाते थे। उन्होंने जोश से ज़िंदगी जी। दुनिया भर में यात्राएँ करते, दोस्त बनाते, कोंकणी भाषा में आकाशवाणी के लिए कार्यक्रम लिखते हुए। उन्होंने अपने बच्चों को उकसाया कि वे उनके पति की सुरक्षा पहले वाले फ़लसफ़े को छोड़ें। और अपनी बेटियों को इस बात के लिए कभी माफ़ नहीं किया कि वे केवल गृहिणी बन कर रह गयीं जबकि कुछ भी कर पाने के अवसर उन्हें थाली में सजा कर दिये गये थे। वे नब्बे से ऊपर की थीं जब हाथ में तख़्ती लिए तपते हुए फुटपाथ पर बैठी थीं नर्मदा आंदोलन का समर्थन करने वाले मोर्चे में।

जब मैं पूना में फ़िल्म एंड टेलिविज़न इंस्टीट्यूट का निदेशक था, तो अक्सर दफ़्तर की जीप से शहर घूमता था। पर उन्होंने ऐलान कर दिया था कि संस्थान के निदेशक की माँ के तौर पर उन्हें जीप में देखा जाना पसंद नहीं है। वे केवल इम्पोर्टिड गाड़ी में चलती थीं।

और इस बात का हमेशा मुझे एहसास रहता था कि अपनी समझ में वे शायद मुझसे बेहतर निर्देशक हो सकती थीं। पर इस बात का उन्हें हमेशा मलाल बना रहा कि अपने तईं, न कि मेरे पिता की पत्नी और हमारी माँ के तौर पर, उनके पास कहने को कोई उपलब्धि नहीं थी। वे कोई दु:खी व्यक्ति नहीं थीं पर हमेशा असंतुष्ट रहीं।

उनकी आत्मकथा के कई मसविदे इन पंक्तियों से शुरू होते हैं :

'कभी-कभी हम थक जाते हैं इस एकाकी जीवन से। इतनी उम्र हो गयी है मेरी पर कभी किसी के काम न आ सकी। आज 82 साल की दहलीज पर खड़ी होकर जब मैं पीछे देखती हूँ तो कुछ और नहीं केवल अपनी की गयी ग़लतियाँ ही नज़र आती हैं।'

'मैं अपने बचपन से ही विफल रही हूँ (हर बात में)। जो भी मैंने चाहा कभी हासिल नहीं कर पायी।'

और कहीं और,

'अक्सर जब ग़ुस्सा या गहरा दु:ख मेरे दिमाग़ पर छाता है, तो मुझे लगता है मुझे अपने ख़याल लिखने चाहिए। अपने जीवन में मैं अपनी कोई इच्छा पूरी नहीं कर पायी। मैं चाहती थी कि ख़ूब पढ़ूँ और बीए या एमए करूँ, संगीत सीखूँ और हारमोनियम बजाना, पढ़ना और भी बहुत कुछ। सिवाय पढ़ाई के कुछ भी हासिल नहीं हुआ।'

जब मैं अपने नाटक *नाग-मंडल* पर समाज-शास्त्री वीणा दास के साथ चर्चा कर रहा था, तो अंत में मैंने यह प्रचलित ढंग का उपसंहार किया, 'और यूँ रानी को उसके पति और पुत्र वापस मिल गये और फिर वे सदा-सर्वदा सुख चैन से जीती रहीं,', तो वीणा बोल पड़ी : 'नहीं, नहीं, उसने अपनी विशिष्टता को अपने घर-संसार में डुबो कर अपने अस्तित्व को शून्य कर दिया।'

मुझे लगता है कि अगर कृष्णाबाई होतीं, तो इससे सहमत होतीं।

इन घटनाओं के कोई अस्सी एक बरस बाद, मेरी बेटी शाल्मली भी अपने प्रेमी मित्र के साथ शादी से पहले पाँच वर्ष रही। उस समय तक पढ़ी-लिखी युवतियों के जीवन का यही चलन हो गया था

कि पहले अपने बॉय फ्रेंड के साथ रहेंगी, फिर तय करेंगी कि शादी करें या न करें। यह सच है कि जब ये आधुनिक स्त्रियाँ मेरी माँ को घेर कर बैठतीं तो कहतीं, 'तुम कितनी हिम्मतवर हो! हमें नाज़ है तुम पर! तुम हमारी हीरोइन हो!' आई ये सारी तारीफ़ें बेलौस ख़ुशी के साथ स्वीकार करतीं। पर यह भी एक सच्चाई है कि जिस क्षण से उनकी शादी हुई, डॉक्टर और कृष्णाबाई इस काम में लग गये कि शादी से पहले की उनकी हर बात, छोटी से छोटी याद, और इतिहास को मिटा दिया जाए। मुझे कहने की ज़रूरत नहीं कि 'कृष्णाबाई गोकर्ण' 'कृष्णाबाई कारनाड' हो गयीं क्योंकि इस परिवर्तन से तो उन्हें गुज़रना ही पड़ता, चाहे उनका नाम होता 'कृष्णाबाई मंकीकर'। हमारे नियम -क़ानून ख़ुद इस बात को बढ़ावा देते हैं कि युवतियों के विवाह पूर्व के जीवन को मिटा दिया जाए।

विवाह के बाद डॉक्टर ने अपना तबादला धारवाड़ से दूर शहर बागलकोट में करवा लिया था जिससे पक्के तौर पर उनका अतीत जीवन से बाहर चला जाए और वो एक नयी ज़िंदगी शुरू कर सकें। 'कृष्णाबाई गोकर्ण' के नर्सिंग प्रमाण-पत्र कभी मढ़वाये नहीं गये। उन्हें लपेट कर पुराने बक्से में रख के ताला मार दिया गया। वे कापियाँ और किताबें, जिन पर उनका नाम लिखा था, उनके पहले पन्ने फाड़ दिये गये या वे सिरे से ही ग़ायब हो गयीं।
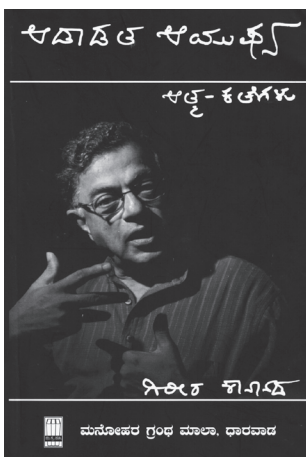
विवाह के बाद डॉक्टर ने अपना तबादला धारवाड़ से दूर शहर बागलकोट में करवा लिया था जिससे पक्के तौर पर उनका अतीत जीवन से बाहर चला जाए और वो एक नयी ज़िंदगी शुरू कर सकें। 'कृष्णाबाई गोकर्ण' के नर्सिंग प्रमाण-पत्र कभी मढ़वाये नहीं गये। उन्हें लपेट कर पुराने बक्से में रख के ताला मार दिया गया। वे कापियाँ और किताबें, जिन पर उनका नाम लिखा था, उनके पहले पन्ने फाड़ दिये गये या वे सिरे से ही ग़ायब हो गयीं।

इस तरह ये दो लोग, जिन्होंने हिंदू पुराण-पंथ को चुनौती देने और तत्कालीन समाज को उसकी जड़ों से झकझोरने की हिम्मत दिखायी थी, ऐसे व्यवहार करने लगे जैसे दोषी वे ही हों। वे लोगों की नज़रों से बचे दूर-दूर कटे-कटे से रहने लगे। अतीत को मिटाने के डॉक्टर के इस षड्यंत्र में उनकी पहली पत्नी स्वाभाविक तौर पर बिना नामो-निशान छोड़े गायब हो गयीं। न मैंने, न मेरे किसी भाई-बहन ने कभी अपने माँ-बाप के मुँह से उनके बारे में सुना।

पर इस बात के धन्यवाद-स्वरूप कि आर्य समाज के आंदोलन के कारण ही उनका विवाह सम्भव हो पाया था (श्री वैद्य जिन्होंने उनका ब्याह करवाया था आर्य समाजी थे) आर्य समाज के प्रवर्तक श्री दयानन्द सरस्वती की काले मखमल पर मढ़ी एक तस्वीर, जिस पर कृष्णाबाई ने सुनहरे धागे और सीपियों से सजे किनारे काढ़े थे, बचपन में हमारे भगवान के कक्ष में ख़ामोशी से विराजमान हो गयी, बिना बताये कि ये चित्र वहाँ क्या कर रहा था।

उनकी शादी के तीन साल के भीतर ही बच्चे दुनिया में आने शुरू हो गये— पहले बसंत, फिर प्रेमा, मैं स्वयं और लीना। जब तक मैं पाँच या छह वर्ष का हुआ, मेरे भाई भालचंद्र ने भी 'गोकर्ण' कुल नाम छोड़ कर 'कारनाड' ही अपना लिया। आख़िरकार विधिवत एक पितृनाम भी होना चाहिए था। 'भालचंद्र आत्माराम गोकर्ण' ने अपना रूपांतर कर लिया 'भालचंद्र रघुनाथ कारनाड' में। नतीजतन हम इसी यक़ीन के साथ बड़े हुए कि वे हमारे सगे भाई हैं।

1942 में, जब मैं चार साल का ही हुआ था, बाप्पा, मेरे

पिता, जो उस समय ससून अस्पताल पूना में कार्यरत थे, सेवानिवृत्त हो गये। पर द्वितीय विश्व-युद्ध अपने चरम पर था। मोर्चे पर डॉक्टरों की बहुत ज़रूरत थी इसलिए सरकार ने उन्हें नौकरी पर बहाल कर लिया।

कोई आश्चर्य नहीं कि माँ के तमाम विरोध के बावजूद, जो चाहती थीं कि वे अपने रसूख़ का इस्तेमाल करके पूना में प्राइवेट प्रैक्टिस शुरू करें, उन्होंने पाँच-छह साल तक सरकारी नौकरी बढ़ाने का प्रस्ताव मंजूर कर लिया, और सिरसी चले गये।

सिरसी पश्चिमी घाट की गोद में छिपा एक वन्य-स्थान था जहाँ बिजली भी नहीं थी, मलेरिया का प्रकोप था और आम तौर पर 'पनिशमेंट पोस्ट' के नाम से जाना था।

पर वह इतिहास, जिसे मेरे माँ-बाप पीछे दफ़्न करने की उम्मीद से आये थे, उन बियाबानों में भी हम बच्चों का पीछा करता रहा, कानाफूसी करते, आँख मारते, भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे गिर्द घूमता रहा। चूँकि हमारे माता-पिता ने अपने अतीत के बारे में हमें अँधेरे में रखा था, हमारा बचपन बड़ा विकल हो गया। ऐसे दुःस्वप्नों से भर गया जहाँ कोई रहस्यमय, असहनीय घटना मौजूद थी, जिसे हमारी और पड़ोसियों की आँखों से ओट में रखना ज़रूरी था, और जो उनके रिश्तों की बुनियाद में था।

एक दिन जब मैं औरतों के एक झुंड के पास से गुज़रा, जो आँगन में बैठी गपशप कर रही थीं, एक औरत ने मुझसे पूछा, 'तेरे पिताजी तेरी माँ से इतने बूढ़े क्यों हैं?' और उसके आस-पास बैठी औरतें सब अपनी खींसें छिपाने लगीं क्यूँकि खिलखिलाहट फूटी पड़ रही थी। उस सवाल में मेरे लिए काल्पनिक सींग और सर्प-दंत उग आये थे।

प्रेमा को, उसकी उम्र की एक लड़की ने, जिसे मेरी छोटी बहन की देख-रेख के लिए रखा गया था, प्रेमा को ख़बर दी कि भालचंद्र हमारा सगा नहीं बल्कि सौतेला भाई है। कहते हैं, कई दिन तक वह एक कोने में मुँह छिपा कर रोती रही।

मेरी क्लास के मेरी ही उम्र के एक लड़के ने मुझे बड़ी गम्भीरता से बताया, 'मेरी दादी सब जानती हैं और उसने ख़ुद मुझे बताया है। जब तुम्हारी माँ की पहली शादी हो रही थी तो उनके हाथ में रखा मंगल-सूत्र साँप बन कर फुँफकार उठा। जब उन्होंने उसे ज़मीन पर पटका तो उसने दूल्हे को डसा और ग़ायब हो गया। दूल्हा वहीं मर गया।' इसके बाद कई रातों तक तरह-तरह की तरकीबें सोचता रहा कि मैं कैसे-कैसे उसे यातनाएँ दूँगा, कैसे उसके हाथ-पाँव बोटी-बोटी काटूँगा। पर किससे कहता, किसके पास जाता?

1948 में पिताजी आख़िरकार डॉक्टरी पेशे से छुट्टी पा ही गये। 1952 में हम धारवाड़ चले आये जहाँ हम सारस्वत कॉलोनी में रहने लगे, जो ख़ालिस सारस्वत ब्राह्मणों का गढ़ था और वहाँ हर कोई हर किसी के परिवार का इतिहास जानता था। मेरी उम्र से कुछ बड़े एक लड़के से मैंने अपने इतिहास के बारे में पूछा। उसने पाँच मिनट में सब फटाफट बता दिया और मैंने चैन की साँस ली। उस वक़्त में चौदह का था।

अगर, हमारे अतीत को हमारी आँखों से ओझल करने की कोशिश के बजाय माँ-बाप ने हमें सच-सच साफ़-साफ़ बता दिया होता तो हम बच्चों का बचपन कहीं कम दर्दनाक होता।

मेरी माँ के वैवाहिक जीवन की इस महागाथा में कोई व्यक्ति अगर सबसे ज़्यादा यहाँ से वहाँ पटका गया, पर किसी तरह बच निकला, तो वे थे मेरे सबसे बड़े भाई भालचंद्र।

वे बड़े सुदर्शन आदमी थे। मेरी पत्नी, सरस्वती तब मेरी मंगेतर थीं— अब याद करती हैं कि जब

मेरी माँ, भाई, बहिन और मैं (एकदम दायें)

भालचंद्र न्यूयॉर्क घूमने आये, तो उन्होंने पूछा कि वे उन्हें पहचानेंगी कैसे, तो उन्होंने जवाब दिया, 'मैं गिरीश जैसा दिखता हूँ— बस ज़रा ज़्यादा 'हैंडसम' हूँ।' वे कुशाग्र बुद्धि थे, बड़ा अच्छा अकादमिक कैरियर था और कला निपुण थे। चित्रकारी करते और सितार भी बजा लेते थे। वे स्नेह के भूखे थे और जितना पाते उतना स्नेह देते भी थे। वे बड़े उत्साही, ऊर्जावान थे और कहते ही किसी भी काम को फ़ौरन करने को खड़े हो जाते थे। वे जब हमारे पास सिरसी आते, तो भारतीय रेलवे सेवा का यह अफ़सर हर सुबह हमारे पिछवाड़े के कुएँ से पानी लाकर स्नानगृह के बड़े-बड़े बर्तन भरने को आतुर रहता। छुट्टियों में उनके आने का हम सबको बेसब्री से इंतज़ार रहता जैसे कोई उत्सव आने वाला हो। और लीना, मेरी छोटी बहन, यह कहते नहीं थकती थी कि 'पति मिले तो भालचंद्र भैया जैसा हो।'

वे बड़े संवेदनशील थे। मुझे याद है कि मैंने उनका लिखा एक पत्र पढ़ा था जो उन्होंने आई को, धारवाड़ में उनकी शादी के बाद पहली बार देख कर लिखा था। 'उस दिन, पहली बार मैंने तुम्हें माथे पर कुमकुम लगाये देखा। तुमने बालों में फूल गूँथ रखे थे और तुम्हारे गले में मंगल-सूत्र पड़ा था। खुशी से तुम्हारा चेहरा दमक रहा था। पता है कितनी सुंदर लग रही थीं तुम उस दिन...', वग़ैरह वग़ैरह।

बप्पा के साथ उनका रिश्ता बड़ा सहज था। वे दोनों बैठ के बातें करते, या ख़ामोशी से बिना कुछ कहे घंटों आराम से पसरे रहते। पर आई से उनका रिश्ता तनावपूर्ण था।

एक दिन, सत्तर के दशक में जब वे पचास-पचपन के रहे होंगे, मुझे एक ख़त मिला जो उन्होंने आई को लिखा था और जो मेज़ पर खुला पड़ा था। तब तक आई ऐसे पत्रों को छुपाना या उनके बारे में सावधान रहना छोड़ चुकी थीं। पत्र में लिखा था, 'आपने कभी मुझे अपना बेटा माना ही नहीं।' जब मैंने माँ से पूछा कि भाई ने ऐसा क्यों लिखा है, तो उनके जवाब से मुझे एक प्रौढ़ व्यक्ति के दिल में दबी व्याकुलता का पता चला।

जब बप्पा और आई अपनी शादी के तुरंत बाद बागलकोट में थे, भालचंद्र स्कूल की छुट्टी में उनसे मिलने आया। एक नर्स ने आई से पूछा कि ये लड़का कौन है। आई को कुछ न सूझा कि वे ग्यारह साल के एक लड़के को उस विवाह में कैसे पिरोतीं, जिसके बारे में सबको बताया गया था कि तीन ही महीने हुए थे शादी को?

'मेरा भांजा', वे बोलीं।

भालचंद्र वहाँ खड़ा सब सुन रहा था।

'चालीस साल पहले हुआ था ये। अब वह पचास से ऊपर का है। फिर भी भूल नहीं पाता।

बहिन पिता की गोद में

अब मैं क्या कहूँ?'

फीकी सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर थी।

जब मैं भालचंद्र के जीवन के बारे में सोचता हूँ, अचरज में पड़ जाता हूँ कि कैसे अपने कष्टों को झेल कर भी उनकी प्रफुल्लता बरक़रार है। पिता उनके शैशव काल में ही गुज़र गये और जिस माँ ने पाला, वह कोई बेचारी विधवा बन कर, कोने में बैठ कर माला फेरने और अपने नक्षत्रों को, अपने दुर्भाग्य को कोसने वालों में नहीं थी। वह महत्त्वाकांक्षी और अधीर थी, अपने जीवन को दोबारा गढ़ने के लिए। उसका पारा जल्दी चढ़ता और वह उग्र हो उठती।

जब वे बेलगाम में थीं, तो भालचंद्र धारवाड़ में आदरणीय मंगेशराव सशित्तल के घर रहते थे, कोई पंद्रह और बच्चों के साथ, और इस बात की कल्पना कठिन नहीं है कि जब माँ की 'नर्सिंग' की ख़बर आती होगी, तो कैसे-कैसे ताने और घिनौनी बातें उन्हें बर्दाश्त करनी पड़ती होंगी।

पर उनके सौभाग्य से, उन्हीं दिनों एक राय बहादुर देवराव कोपिकर, जो सारस्वत कॉलोनी के बड़े आदरणीय बाशिंदे थे, गोकर्ण से ताराबाई नाम की एक बेपढ़ी लिखी लड़की को अपनी तीसरी बीवी बनाकर धारवाड़ ले आये। वह भालचंद्र के पिता की बहिन थी। देवराव ने उस लड़की को पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उसे पूना मेडिकल कॉलेज तक भेजा। उन्होंने उसके दो छोटे भाइयों को भी गोकर्ण से बुलाकर सारस्वत कॉलोनी के अपने एक हिस्से में बसा लिया। उनमें से एक वन विभाग में भर्ती हो गया और दूसरे ने दर्ज़ी की दुकान खोल ली। देवराव ने भालचंद्र की शिक्षा में दिलचस्पी दिखायी और पूना के इंजीनियरिंग कॉलेज की पढ़ाई की फ़ीस भी उन्होंने ही दी। इस सब के चलते भालचंद्र को अपने पिता के परिवार के क़रीब होने का मौक़ा भी मिला।

1940 के दशक की शुरुआत में, बाप्पा ने एक दिन भालचंद्र को अलग बुलाकर कहा, 'मैं बूढ़ा हो रहा हूँ और इस पकी उम्र में चार बच्चों बाप भी बन गया हूँ। तुम उनके बड़े भाई हो, और अगर मुझे कुछ हो गया तो इन सबकी देख-रेख का ज़िम्मेदारी तुम्हीं को लेनी होगी।' उससे भी महत्त्वपूर्ण उनका यह सुझाव था कि भालचंद्र अपना कुल नाम, 'गोकर्ण', छोड़ कर 'कारनाड' नाम का इस्तेमाल कर परिवार का हिस्सा बन जाएँ। जो इतिहास हमें बताया गया उसके अनुसार, भालचंद्र ने बिना न नुकुर वह सलाह मान ली और विधिवत भालचंद्र 'गोकर्ण' भालचंद्र 'कारनाड' बन गये।

तब तक वे ओजस्वी रूप से इंजीनियरिंग कॉलेज की डिग्री ले चुके थे। फिर भी उन्होंने आई की

बार-बार की गयी यह गुहार न मानी कि उन्हें अपना ख़ुद का सिविल इंजीनियरिंग का काम जमाना चाहिए। और वे इंडियन रेलवे सर्विस (आई.आर.एस.) में शामिल हो गये, बप्पा के इस सिद्धांत को मानते हुए कि सुरक्षित होना बाद में दुखी होने से बेहतर है। उन्होंने धारवाड़ के नामी वकील नारायण राव कोपिकर की ख़ूबसूरत बेटी सुमन से विवाह रचाया और पूर्वोत्तर रेलवे की सेवा करने चले गये।

सो यूँ कारनाड परिवार को लगता था चैन मिल ही गया, जो बाप्पा हमेशा चाहते थे, भले ही गहरी प्रशांति न मिली हो।

पर जब भालचंद्र के बच्चे बड़े हुए तो छुट्टियों में धारवाड़ आने-जाने लगे। वे ज़्यादा दिन, जैसा कि भारतीय परिवारों में रिवाज़ है अपने नाना-नानी के साथ बिताते। वे भावनात्मक रूप से आई और बाप्पा के मुक़ाबले, ललिता और नारायण राव के अधिक क़रीब थे। वहाँ से दबी आवाज़ों में सवाल, पूछे जाने लगे। 'भालचंद्र ने अपना कुलनाम क्यों बदला?' 'वे ख़ुद ये करने को तैयार हुए या उन पर कोई दबाव डाला था बप्पा ने?' इन सब बातों का हम कारनाड लोगों के लिए कोई मतलब नहीं था, क्योंकि हम तो इसी विश्वास को मान कर बड़े हुए थे कि भालचंद्र हमारे सगे भाई हैं, और भालचंद्र के व्यवहार ने इस बारे में लेशमात्र शक छोड़ा भी नहीं था। पर प्रश्न बार-बार पूछे जाते रहे, कभी सीधे नहीं, पर अधिक आवृत्ति से और वे झल्लाहट का कारण भी बनने लगे।

आई और भालचंद्र की सास के बीच का परम्परा-अभिशप्त तनावपूर्ण रिश्ता इन प्रश्नों से और कड़वा होने लगा। आई ने मान लिया कि उनके पोते-पोती को भालचंद्र के अभावपूर्ण बचपन की डरावनी कहानियाँ ललिता ने ही सुनायी होंगी। और उन्हें इस बात में कोई शक नहीं था कि दो गोकर्ण बंधु— भालचंद्र के चाचा— जो देवराव के घर में जमे हुए थे, वे भी अपने षड्यंत्र चला रहे थे। (बाप्पा इन सब बातों से बिल्कुल निर्विकार रहते थे।)

आई गोकर्ण बंधुओं की शैतानी हरकतों के बारे में कितना सही थीं इसका पता कई वर्षों बाद मुझे एक अप्रत्याशित बात से मिला। 1990 के दशक में एक बार भालचंद्र की बेटी, नीलिमा को उसके जन्म प्रमाण-पत्र की ज़रूरत पड़ी। चूँकि वह विदेश में थी, मैंने उसकी ओर से जन्म प्रमाण-पत्र की नक़ल के लिए दरख़्वास्त डाल दी। जब वह काग़ज मुझे मिला तो मैं सन्न रह गया, क्योंकि उसमें
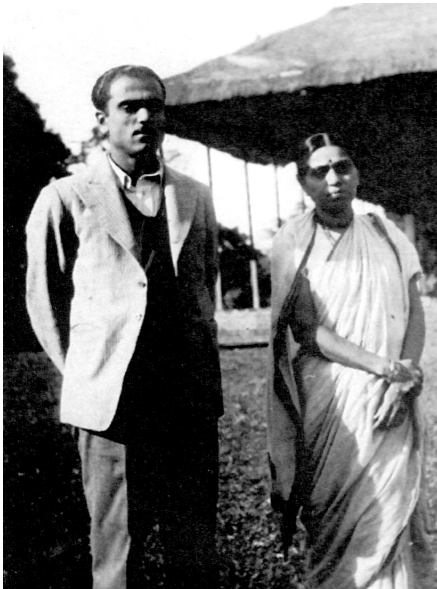
बड़े भाई भालचंद्र के साथ माँ

मेरी माँ कृष्णाबाई मंकीकर
उर्फ कुट्टाबाई

मेरे पिता

लड़की के पिता के रूप में 'भालचंद्र रघुनाथ कारनाड' की जगह 'भालचंद्र आत्माराम गोकर्ण' दर्ज था। सच का पता लगाने के लिए थोड़ी तहक़ीक़ात करनी पड़ी। जब सुमन, भालचंद्र की पत्नी, बच्चे की पैदाइश के लिए अपने पीहर धारवाड़ आयी, तो ज़ाहिर है भालचंद्र की चाची ताराबाई जो डॉक्टर थी, ने ही उसकी देख-रेख की। दो गोकर्ण बंधुओं में से कोई एक भाई बच्ची का जन्म दर्ज करवाने जब म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन गया तो उसने तय कर लिया कि भालचंद्र का कुल त्यागना उसे मंज़ूर नहीं है। उसने बिना किसी को बताये कारनाड वाले हिस्से को हटा दिया और बच्ची के जन्म को गोकर्ण परिवार के शुभ-लाभ के रूप में दर्ज करवा दिया। चार दशकों तक, उसकी शैतानी म्युनिसिपैलिटी की फ़ाइलों में छिपी कारनाडों को अँगूठा दिखाती रही।

1978 में बाप्पा, मेरे धारवाड़ के घर में, नब्बे की उम्र में गुज़रे। भालचंद्र और बसंत दोनों बंबई से भाग कर हमारे पास पहुँचे।

बाप्पा नास्तिक थे और वैदिक ब्राह्मणों को सहन नहीं कर पाते थे। 'तुम उन ठगों को मेरी मौत के बाद, मेरे नाम पर इस घर में न घुसने देना,' वे मुझे झिड़क कर गये थे, 'और मैं कौवा-पौवा बनकर वापस नहीं आने वाला पिंड खाने के लिए।' इसी अनुसार, उनका अंतिम संस्कार, बिना किसी धार्मिक अनुष्ठान के किया गया। भालचंद्र ने चिता को आग दी।

पर आई को लगा कि, जो श्मशान में हुआ उससे उनका कुछ लेना-देना नहीं था। किन्तु घर में मृत्योपरांत की जाने वाली शुद्धि, बाक़ायदा शास्त्रोचित ढंग से होनी चाहिए। 'जो चले गये, वे चले गये', वे बोलीं, 'पर जो रह गये हैं, उन्हें शुचि भाव के साथ ही रहना चाहिए। शांति होनी चाहिए। नया जीवन शुरू होना चाहिए।' इसका अर्थ हुआ कि अग्नि-होम, पितरों की आत्मा के लिए पितृदान आदि संस्कार कर्म किये जाएँ।

इस सबसे सवाल उठा कि ये तर्पण कौन करेगा। पारम्परिक रूप से यह अधिकार मृतात्मा के

सबसे छोटे पुत्र का होता है, या सबसे बड़े बेटे का। मैं सबसे छोटा था पर नास्तिक। इसके अलावा, मैं उस कर्मकांड को नहीं करना चाहता था जिसके लिए बाप्पा ने स्वयं मना किया था। सो, मैंने मना कर दिया। इस तरह से ज़िम्मेदारी बसंत पर आ पड़ी। पर मैंने उससे कहा, 'देखो, हम यही मान कर बड़े हुए हैं कि भालचंद्र बाप्पा के बड़े सुपुत्र हैं। उन्होंने भी अपना नाम बदल, पितृ नाम छोड़ कर बाप्पा का नाम गोत्र अपनाया है। हमें इस बात का सम्मान करके उन्हीं से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे ही सारे अनुष्ठान करें।'

बसंत तुरंत मान गया।

इस निर्णय का विरोध किया उस पंडित ने जो होम आदि करवाने आया था और हमारे कुछ ख़ास पड़ोसियों ने। 'संतति केवल पैदा करने वाले के लिए श्राद्ध करती है,' उन्होंने आग्रह किया, 'और भालचंद्र बाप्पा की संतान नहीं है। उनके पास बाप्पा की आत्मा का तर्पण करने का अधिकार नहीं है।'

मेरे पास इस सब ढकोसले के लिए कोई समय नहीं था, सो मैं न माना।

आई मुझे अलग कोने में ले गयी और चिंतित स्वर में बोली, 'पर यह ग़लत नहीं है क्या? हमने तो उसे बेटे के तौर पर बाक़ायदा गोद भी नहीं लिया था।'

'ये तुम्हारी ग़लती है,' मैंने तर्क दिया, 'तुम्हें विधिवत उन्हें गोद लेना चाहिए था, बजाय सिर्फ़ उनका नाम बदलने के।'

भालचंद्र ने मेरा सुझाव मान लिया। सारे श्राद्ध-संस्कार शास्त्र-सम्मत ढंग से हुए और फिर ब्रह्म-भोज भी, जो आत्मा के मनुष्य से बंधन मुक्त होने का उत्सव होता है।

अगले दिन मैं उस बड़े कमरे की सफ़ाई करवा रहा था जहाँ हवन-कुंड बनाया गया था कि तभी थोड़ी दूर पर जिस दिशा में मुँह करके भालचंद्र ने पिंड दान किया था, अलमारी के पीछे छिपी एक अपरिचित चीज़ मुझे दिखायी दी। मैं गया और उसे उठा लिया।

यह एक ग्रुप फ़ोटो थी। चार संभ्रांत लोग, सूट-टाई पहने, चालीस के दशक के भूषाचार में, लाइन से लगी कुर्सियों पर तने से बैठे थे। मैं उनमें से दो को पहचान गया। वे भालचंद्र के चाचा थे— उनके पिता के छोटे भाई।

मैं हक्का-बक्का रह गया। भालचंद्र के पिता तो उस फ़ोटो में हो ही नहीं सकते थे, क्योंकि वे बहुत पहले गुज़र चुके थे। पर इतना तो स्पष्ट था कि वह फ़ोटो वहाँ गोकर्ण परिवार की नुमाइंदगी कर रही थी।

कोई इसे गोकर्ण वालों के घर से हमारे घर लाया था। पर कौन? और किसने उसे ठीक उसी सिम्त रखा जिस तरफ़ भालचंद्र को सारे संस्कार- कर्म करने थे? मेरे लिए ये कल्पना करना भी नामुमकिन था कि भालचंद्र ऐसे विश्वासघाती हो सकते हैं।

उसी क्षण, आई कमरे में आयीं, और मुझे उस तस्वीर को घूरते हुए देखा। उन्होंने वह तस्वीर मेरे हाथ से ले ली, और बिना एक पलक झपकाये, हौले-हौले कुछ बड़बड़ाते हुए, घर के अंदर ग़ायब हो गयीं।

वह फ़ोटो फिर कभी मुझे घर में दिखायी नहीं दी।